साधे गये विगत में व्रत ये जहाँ हैं,
साधें जिन्हें नित नितान्त महामना हैं ।
होते स्वयं सहज सत्य महान तातैं,
ये आप सार्थक महाव्रत नाम पाते ॥३१॥

वाक् चित्त-गुप्ति धरना, लख भोज पाना,
ईर्या समेत चलना उठ बैठ जाना ।
आदान निक्षपण से, सब भावनायें
ये पाँच आद्य व्रत की सुख-साधनायें ॥३२॥

छोड़ो प्रलोभ, मन आगम ओर मोड़ो,
गंभीर हो अभय हो भय हास्य छोड़ो,
संमोह क्रोध तज दर्शन पालना, ये,
हैं पाँच सत्यव्रत की शुभ भावनायें ॥३३॥

देखो न अंग महिलाजन संग छोड़ो,
स्त्री की कथा श्रवण से मन को न जोड़ो ।
संभोग की स्मृति तजो, न गरिष्ट खाना
ये भावना परम ब्रह्मन की खजाना ॥३४॥

छोड़े हुए सदन शून्य घरों वनों में,
सत्ता जमा कर नहीं रहना द्रुमों में ।
साधर्मि से न लड़ना शुचि भोज पाना,
ये भावना व्रत अचौर्यन की निभाना ॥३५॥

ये शब्द स्पर्श रस रूप सुगंध सारे,
पंचाक्ष के विषय हैं कुछ सार खारे ।
ना राग रोष इनमें करना कराना,
हैं भावना चरम जो व्रत की निभाना ॥३६॥

ईर्या सुभाषणवती पुनि एषणा है,
आदान निक्षपण औ व्युतसर्गना है ।
पाँचों कही समितियाँ जिनने इसी से,
हो शुद्ध शुद्धतम संयम हो शशी से ॥३७॥

संबोधनार्थ भवि को जिनने बताया,
जो ज्ञान ज्ञान गुण लक्षण को दिखाया ।
सो, ज्ञान जैनमत में निज आतमा है,
गो मान, मान, फलतः दृग ज्ञातमा हैं ॥३८॥

होते अजीव अरु जीव निरे निरे हैं,
ज्ञानी हुए कि इस भाँति लखे खरे हैं ।
औ राग रोष जिस जीवन में नहीं है,
सो 'मोक्षमार्ग' जिन शासन में वही है ॥३९॥

सम्यक्त्व बोध व्रत को शिवराह राही,
श्रद्धाभिभूत बन के समझो सदा ही ।
योगी इन्हें हि लखते दिनरैन भाई,
निर्वाण शीघ्र लहते सुख चैन स्थाई ॥४०॥

विज्ञान का गलित गादर साधु पीते,
धारें अतः विमल भाव स्वतंत्र जीते ।
चूडामणी जगत के स्वपरावभासी,
वे शुद्ध सिद्ध बनते शिव धाम वासी ॥४१॥

जो ज्ञान शून्य नहिं इष्ट पदार्थ पाते,
अज्ञान का फल अनिष्ट यथार्थ पाते ।
यों जान, ज्ञान गुण के प्रति ध्यान देना,
क्या दोष क्या गुण रहा, कुछ जान लेना ॥४२॥

ज्ञानी वशी चरित के रथ बैठ त्यागी,
चाहे न आत्म तज के परको विरागी ।
निर्भ्रान्त वे अतुल अव्यय सौख्य पाते
दिग्भ्रान्त ही समझ तू भव दुःख पाते ॥४३॥

सम्यक्त्व संयम समाश्रय से सुहाता,
चारित्र सार द्विविधा शिव को दिलाता ।
संक्षेप से भविक लोकन को दिखाया,
श्री वीतराग जिनने हमको जिलाया ॥४४॥

चारित्र प्राभृत रचा रुचि से सुचारा,
भावों इसे अनुभवों शुचि भाव द्वारा ।
तो शीघ्र चारगति में भ्रमना मिटेगा,
लक्ष्मी मिले मुकति में, रमना मिलेगा ॥४५॥

- दोहा -

चार चाँद चारित्र से जीवन में लग जाय ।
लगभग तम भग ज्ञान शशि उगत उगत उगजाय ॥१॥

समकित-संयम आचरण, इस विधि द्विविध बताय ।
वसुविध-विधि नाशक तथा सुरसुख शिव सुखदाय ॥२॥

बोध-प्राभृत

ज्ञाता अनेक विध आगम के यशस्वी,
सम्यक्त्व संयम लिए तपते तपस्वी ।
धोते कषायमल, निर्मल शुद्ध प्यारे,
आचार्य वे नमन हो उनको हमारे ॥१॥

जो भी जिनेश मत में जिनने बताया,
संक्षेप मात्र उसकी यह मात्र छाया ।
भव्योपकारार्थ सबको सुन लो सुनाता,
है बोध प्राभृत जगच्चरणों में नता ॥२॥

है आद्य आयतन चैत्यगृहा सुप्यारा,
है तीसरी जिनप की प्रतिमा सुचारा ।
सददर्शना, जिनप बिम्ब विराग-शाला,
आत्मार्थ ज्ञान यह सात सुनाम माला ॥३॥

औ देव तीर्थंकर अर्हंत है प्रव्रज्या,
जो हो विशुद्ध गुण से बिन राग लज्जा ।
ये हैं जिनोदित यथा क्रम जान लेना,
आगे उन्हें कह रहा बस ! ध्यान देना ॥४॥

जीते जिनी करण निर्विषयी दमी है,
वाक्काय चित्त वश में रखता शमी है ।
निर्ग्रन्थ रूप यम संयम कूप भाता,
होसत्य आयतन में वो शास्त्र गाता ॥५॥

हैं राग रोष मद को मन में न लाते,
चारों कषाय वश में रखते सुहाते ।
औ पाँच पाप तज सदव्रत पाँच पाले,
वे शुद्ध आयतन है ऋषि राज प्यारे ॥६॥

साधा निजात्म मुनि निर्मल ध्यान धारी,
हीराभ से विमल केवल ज्ञान धारी ।
हैं सिद्ध-आयतन श्रेष्ठ मुनीश्वरों में,
वन्दूँ उन्हें, विनय से निसि वासरों में ॥७॥

विज्ञान धाम निज आतम को सुजाने,
चैतन्य पिण्डमय भी पर को पिछाने ।
पाले महाव्रत सही खुद ज्ञान होता,
वो साधु चैत्यगृह हो सुन भव्य श्रोता ॥८॥

बंधादि मोक्ष सुख आतम भोगता है,
लो धारता जब सचेतन-योगता है ।
षटकाय-जीव हितकारक नग्न स्वामी,
जीवन्त चैत्य गृह है जिन मार्ग-गामी ॥९॥

सम्यक्त्व बोध शुचि से बन पाते
जीवन्त जंगम दिगम्बर साधु प्यारे ।
निर्ग्रन्थ ग्रन्थ तज-राग, विराग ही हैं,
आदर्श-जैन मत में प्रतिमा वही है ॥१०॥

जाने लखे स्वयम को समदृष्टि वाला,
है शुद्ध आचरण से चलता निराला ।
निर्ग्रन्थ संयममयी प्रतिमा यही है,
तो वन्दनीय वह है जग में सही है ॥११॥

पाये अनन्त सुख वीर्य अनन्त पाये,
पा ज्ञान दर्शन अनन्त अतः सुहाये ।
दुष्टाष्ट कर्म तन के बिन जी रहे हैं,
स्वादिष्ट-शाश्वत-सुखामृत पी रहे हैं ॥१२॥

व्युत्सर्गरूप-प्रतिमा ध्रुव हो लसे हैं,
लोकाग्र जा स्थिर शिवालय में बसे हैं ।
वे सिद्ध जो अतुल निश्चिल शैल सारे,
हैं क्षोभ से रहित हैं हित हैं हमारे ॥१३॥

सद्धर्म को सहज सम्मुख शीघ्र लाता,
सम्यक्त्व मोक्ष पथ संयम को दिखाता ।
निर्ग्रन्थ ज्ञानमय, "दर्शन" भी वही है,
यों जैन शास्त्र हम को कहता सही है ॥१४॥

आर्या व क्षुल्लक दिगम्बर साधुओं का,
वो वेश आलय स्वबोध दृगादिकों का ।
हो फूल से तुम सुगन्ध अवश्य पाते,
हो दूध से घृत प्रशस्त मनुष्य पाते ॥१५॥

पात्रानुसार विधि नाशक जैन दीक्षा,
देते कृपाकर ! कृपा कर उच्च शिक्षा ।
है वीतराग बन संयम शुद्ध पाले,
आचार्य वे हि "जिन बिम्ब" हमें संभाले ॥१६॥

सेवा करो विनय आदर वन्दना भी,
आचार्य की सुखद पूजन भावना भी ।
कर्त्तव्य में सतत जागृत ज्ञान वाले,
सम्यक्त्व सौध जिनबिम्ब रहे हमारे ॥१७॥

मूलोत्तरादिक गुणों सब सत्तपों से,
हैं शुद्ध शुद्धतर शुद्धतमा व्रतों से ।
दीक्षादि दान करते गुण के समुद्रा,
आचार्य ही नियम से अरहन्त मुद्रा ॥१८॥

सत् साधु की शुचिमयी अकषाय मुद्रा,
है वन्द्य पूज्य जित इन्द्रिय पूत मुद्रा ।
वो वस्तुतः सुदृढ़ संयम रूप मुद्रा,
हे भव्य स्वीकृत वही अरहन्त मुद्रा ॥१९॥

सद्ध्यान योग यम संयम से सुहाता,
सो मोक्ष मार्ग जिन आगम में कहाता ।
है लक्ष्य, मोक्ष जिसका वह ज्ञान से हो,
ज्ञातव्य ज्ञान यह है निज ध्यान से हो ॥२०॥

भेदे न लक्ष बिन बाण धनुष्य धारी
जाने बिना वह धनुष्य न कार्यकारी ।
सो लक्षभूत शिव तो न कदापि पाता,
जो ज्ञान-हीन भव में दुख ही उठाता ॥२१॥

हो शोभता पुरुष जो विनयी सही है,
ले ज्ञान लाभ निज जीवन में वही है,
है मोक्ष, मोक्ष पथ का वह लक्ष-ध्याता,
विज्ञान से सहज मोक्ष अवश्य पाता ॥२२॥

प्रत्यंच हो श्रुत, मती स्थिर हो धनुष्य,
हो बाण रत्नत्रय ले कर में अवश्य ।
शुद्धात्म लक्ष यदि मात्र किया सही है,
तो साधु, मोक्ष पथ से चिगता नहीं है ॥२३॥

वे देव धर्म धन काम सुबोध देते,
औचित्य जो निकट हो वह दान देते ।
है देव के निकट भी शिवदा प्रव्रज्या,
है धर्म अर्थ कल केवल ज्ञान विद्या ॥२४॥

हो धर्म शुद्ध सदयावश हो प्रव्रज्या,
वो सर्व संग बिन शोभित हो सुसज्या ।
वे देव हैं विगत मोह सदा कहाते,
सोते सुभव्य जन को सहसा जगाते ॥२५॥

चारित्र से विमल दर्शन औ बनाने,
पंचेन्द्रियाँ दमित संयम भी कराने ।
दीक्षा प्रशिक्षण गहे गुरु से, सुहाये,
साधु स्वतीर्थ भर में दुबकी लगाये ॥२६॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप संयम धर्म सारे,
ये साधु के विमल निर्मल हो उजारे ।
औ साथ साथ यदि वो समता रही है,
तो तीर्थ जैन मत में सुखदा वही है ॥२७॥

निक्षेप चार वश पर्यय भाव द्वारा,
ज्ञानादि पूर्ण गुण के गण भाव द्वारा ।
किंवा सुनो च्यवन आगति आदि द्वारा,
अर्हन्त रूप दिखता सुख का पिटारा ॥२८॥

है भाव मोक्ष दृग ज्ञान अनन्त पाये,
आठों नयीन विधि-बंधन को मिटाये ।
स्वामी ! अतुल्य गुण भार नितान्त जोते,
वे ही जिनेश मत में अरहन्त होते ॥२९॥

ये पाप पुण्य मृति रोग जरादिकों को,
मेटा समूल मल पुद्गल के दलों को,
चारों गती भ्रमण-मुक्त हुए अतः हैं,
विज्ञान धाम अरहन्त हुए स्वतः हैं ॥३०॥

पर्याप्ति प्राण गुणथान विधान द्वारा,
औ जीव थान सब मार्गण-भाव द्वारा ।
सो स्थापना हृदय में अरहन्त की हो,
शीघ्राति-शीघ्र जिससे भव अन्त ही हो ॥३१॥

है प्रातिहार्य वसु मंडित पूज्य प्यारे,
चौतीस सातिशय वे गुण भी सुधारें ।
बैठे उपान्त-गुण थानन में सयोगी,
हैं केवली विमल हैं अरहन्त योगी ॥३२॥

ये मार्गणा कि, गति इन्द्रिय, काय, योग
औ वेद दु:खद-कषाय व ज्ञान-योग ।
पश्चात संजम व दर्शन, लेश्य भव्य,
सम्यक्त्व, संज्ञिक, आहार सुजान ! भव्य ॥३३॥

आहार आदिम शरीर तथैव भाषा,
औ आन-प्राण, मन, मान ! जिनेश गाया,
पर्याप्तियाँ गुण छहों अरहन्त धारें,
माने गये परम उत्तम देव प्यारे ॥३४॥

तू पाँच ही समझ इन्द्रिय प्राण होते,
वाक्काय चित्त त्रय ये बल प्राण होते ।
औ आन प्राण इस आयुष प्राण सारे,
माने गये समय में दश प्राण प्यारे ॥३५॥

हो जीव स्थान वह चौदहवाँ, मनुष्य,
पंचेंन्द्रियाँ मन मिले जिसमें अवश्य ।
पूर्वोक्त सर्व गुण पा अरहन्त प्यारे
बैठे उपान्त गुणथानन में उजारे ॥३६॥

वार्धक्य व्याधि दुख भी जिसमें नहीं है,
ये श्लेष्म स्वेद मल थूँक सभी नहीं है,
आहार भी नहिं विहार कभी नहीं है,
जो दोष कोष न घृणास्पद भी नहीं है ॥३७॥

सर्वांग में रुधिर मांस भरे हुए हैं,
गोक्षीर शंख सम श्वेत धुले हुए हैं ।
पर्याप्तियां छह मिले दश प्राण सारे,
शोभे हजार वसु लक्षण पूर्ण प्यारे ॥३८॥

ऐसे हि श्रेष्ठ गुण धाम प्रमोदकारी,
सौगंध-सौध अति निर्मल मोहहारी ।
औदारिकी तन रहा अरहन्त का है,
पूजो इसे पद मिले भगवन्त का है ॥३९॥

जो राग रोष मद से प्रतिकूल होते,
स्वामी कषाय मल से अति दूर होते ।
कैवल्य भाव शुचि आर्हत में जगा है,
पूरा क्षयोपशम-भाव तभी भगा है ॥४०॥

कैवल्य ज्ञान शुचि दर्शन-नेत्र द्वारा,
हैं जानते निरखते जग लोक सारा ।
सम्यक्त्व से अग अगा जगते निराला,
अर्हन्त का विमल भाव स्वभाव प्यारा ॥४१॥

उद्यान शून्य गृह में तरु कोटरों में,
भारी वनों उपवनों गिरी गहवरों में ।
किंवा भयानक श्मशान-धरातलों में,
कोई सकारण विमोचित आलयों में ॥४२॥

पूर्वोक्त स्थान भर में रह शील पाले,
ऐसे जिनेश मत में मुनि मुख्य प्यारे ।
स्वाधीन हो जिन जिनागम तीर्थ ध्यावे,
उत्साह साहस स्वतंत्रपना निभावे ॥४३॥

पाले महाव्रत, तजे पर की अपेक्षा,
हो के जितेन्द्रिय करे सबकी उपेक्षा ।
स्वाध्याय ध्यान भर में लवलीन होते,
वे ही नितान्त मुनि श्रेष्ठ प्रवीण होते, ॥४४॥

आरंभ पाप तज सर्व कषाय जीते,
औ गेह ग्रन्थभर से बन पूर्ण रीते ।
सारे सहे परिषहों उनकी प्रव्रज्या,
मानी गई समय में वह लोक पूज्या ॥४५॥

वस्त्रादि दान धनधान्य कुदान से भी,
छत्रादि स्वर्ण शयनासन दान से भी ।
मानी गई न जिनशासन में प्रवृज्या,
निर्ग्रन्थ, ग्रन्थ बिन ही लसती प्रवृज्या ॥४६॥

जो साम्य, निंदन सुवंदन में सँभारे,
मिट्टी गिरी कनक को तृण को निहारे ।
माने समान रिपु बाँधव लाभ हानी,
दीक्षा सही श्रमण की यह साधु वाणी ॥४७॥

नाहीं करे धनिक निर्धन की परीक्षा,
छोटा बड़ा भवन यों न करे समीक्षा ।
जाते सभी जगह भोजन लाभ हेतु,
दीक्षा सही श्रमण की यह जान रे ! तू ॥४८॥

निर्ग्रन्थ हो निरभिमान निसंग प्यारे,
निर्दोष निर्मम निरीह नितान्त न्यारे ।
नीराग नित्य निरहंपण शील धारी,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की सुख झीलवाली ॥४९॥

निर्लोभ भाव रत है मुनि निर्विकारी,
निर्मोह निष्कलुष निर्भय भाव धारी ।
आशा बिना विषय राग बिना विरागी,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की समझो सुरागी ॥५०॥

नीचे भुजा कर खड़े शिशु रूप धारे,
वस्त्रास्त्र शस्त्र तज शांत स्व को निहारे
काटे निशा परकृतों मठ मंदिरों में,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की समझूँ गुरो ! मैं ॥५१॥

धारो क्षमा शमदमान्वित हो सुहाते,
स्नानादि तैल तजते तनको सुखाते ।
है राग रोष मद से अति दूर ज्ञानी,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की सुन मूढ़ प्राणी ॥५२॥

भागी नितान्त जिन की मति मूढ़तायें
होगी विनष्ट वसु ये विधि-गूढ़तायें ।
मिथ्या टली दृग विशुद्ध मिली शिवाली,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की समता-सुप्यारी ॥५३॥

उत्कृष्ट संहनन या कि जघन्य पावें,
निर्ग्रन्थ वे बन सके जिन यों बतावें ।
दुष्टाष्ट कर्म क्षय की रख मात्र इच्छा,
स्वीकारते भविक हैं जिन लिंग दीक्षा ॥५४॥

अत्यल्प भी विषय राग नहीं रहा है,
ना बाह्य का ग्रहण संग्रह भी रहा है ।
दीक्षा उन्हीं श्रमण की जिन हैं बताते,
जो जानते निखिल को लखते सुहाते ॥५५॥

साधू सहें परिषहों उपसर्ग बाधा,
प्राय: रहें विजन में वन मध्य ज्यादा ।
एकान्त में शयन आसन साधते हैं,
भू पे, शिला, फलक पे निशि काटते हैं ॥५६॥

साधू करे न विकथा व्यभिचारियों से,
हो दूर षंढ पशुवों महिलाजनों से ।
स्वाध्याय-ध्यान रत जीवन हैं बिताते,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की जिन हैं बताते ॥५७॥

सम्यक्त्व से नियम संयम के गुणों से,
होते नितान्त मुनि शुद्ध व्रतों तपों से ।
दीक्षा विशुद्ध उनकी गुण-धारती है,
प्यारी यही कह रही जिन भारती है ॥५८॥

निर्ग्रन्थ आयतन हो मुनि के गुणों से,
पूरा भरा नियम-संयम लक्षणों से ।
ऐसा जिनेश मत ने हम को बताया,
संक्षेप से मुनिपना हम को दिखाया ॥५९॥

निर्ग्रन्थ रूप सुख कूप अनूप प्यारा,
षट्काय जीव हित कारक भूप न्यारा ।
जैसा जिनेन्द्र मत में जिन ने बताया,
बोधार्थ भव्य जन को हमने दिखाया ॥६०॥

भाषा ससूत्र जिननायक ने बताया,
सो शब्द का सब विभाव विकार-माया ।
मैं भद्रबाहु गुरु का लघु शिष्य छाया,
जो ज्ञात था समय के अनुसार गाया ॥६१॥

वाक्देवि के पद प्रचार प्रसारकर्ता,
हे ! द्वादशांग श्रुत चौदह पूर्व धर्ता ।
हे ! भद्रबाहु श्रुत केवलज्ञान धारी,
स्वामी ! गुरो गमक हे ! जय हो तुम्हारी ॥६२॥

- दोहा -

जिन आलय औ आयतन, प्रतिमा, दर्शन सार ।
जैन बिम्ब औ जैन की मुद्रा सुख आगार ॥१॥

ज्ञान, देव, शुचि तीर्थ भी दीक्षा पथ अरहन्त ।
ग्यारह ये मुनि रूप हैं धरते भव का अन्त ॥२॥

पाषाणादिक में इन्हें थाप भजो व्यवहार ।
यही बोध प्राभृत रहा अबोध मेटन "हार" ॥३॥

भाव पाहुड़

सिद्धादि पंच परमेष्ठि, यतीश्वरों से,
जो हैं नमस्कृत नरों असुरों सुरों से ।
श्रद्धा समेत उनको शिर में नवाता,
हूँ भाव प्राभृत सुनो तुम को सुनाता ॥१॥

है भाव लिङ्ग वर मुख्य मुझे सुहाता,
हैं द्रव्य लिङ्ग न यथार्थ जिनेश गाता ।
है भाव ही नियम से गुण-दोष हेतु,
होता भवोदधि वही भव सिन्धु-सेतु ॥२॥

ये भाव शुद्ध-तम हो, जब लक्ष होता,
तो बाह्य संग तजना अनिवार्य होता ।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता,
है बाह्य त्याग मुनि का वह व्यर्थ जाता ॥३॥

वे कोटि कोटि शतकोटि भवान्तरों में,
साधू तपे तप भले निशि वासरों में ।
नीचे भुजा कर खड़े सब वस्त्र त्यागे,
ना, शुद्ध भाव बिन केवल ज्ञान जागे ॥४॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाते,
पै बाहरी सब परिग्रह को हटाते ।
वे भाव शून्य करनी करते कराते,
हा ! बाह्य त्याग उनको किस काम आते ? ॥५॥

रे ! भाव लिंग बिन बाहर लिंग से क्या ?
वैरी मिटे, असि बिना असिकोष से क्या ?
है भाव, मोक्ष-पुर का पथ, जान पंथी,
ऐसा जिनेश कहते, तज पूर्ण ग्रंथी ॥६॥

रे ! बार बार घर बाहर लिंग छोड़ा,
निर्ग्रन्थ रूप धर भी मन ना मरोड़ा ।
तूने सदा पुरुष हे ! दुख बीज बोया,
हो ! भाव हीन चिर से भव बीच रोया ॥७॥

हो नारकी नरक भीषण योनियों में,
तिर्यंच में असुर मानव योनियों में ।
तू ने सही सुचिर दुस्सह वेदनायें,
भा, भावना अब निजी-जिन देशनायें ॥८॥

दुस्सह्य दारुण भंयकर दुःख भोगा,
पा सातवे नरक में नित शोक रोगा ।
तेरा हुआ अहित ही हित ना हितैषी,
वैसी सदा गति मिले मति होय जैसी ॥९॥

उत्पाटनों खनन ताड़न छेदनों से,
औ बंधनों ज्वलन गालन भेदनों से ।
तिर्यञ्च हो कुगति में चिरकाल पीड़ा,
तू ने निरंतर सही बिन ज्ञान हीरा ॥१०॥

आकस्मिकी सहज दो दुख ये गिनाये,
दो और मानसिक कायिक वेदना ये ।
तूने मनुष्य भव में दुख भार पाया,
बीता वृथा अमित काल न, पार पाया ॥११॥

इन्द्रादि के विभव को लख सूखता था,
देवी मरी विरह हेतु दुखी हुआ था ।
दुर्भावना सहित हो कब तू सुखी था,
हो देव, देव गति में फिर भी दुखी था ॥१२॥

कंदर्प दर्प मय पंच कुभावनाएं,
भाई, रखी विषय उर वासनाएं ।
हो बार बार बस केवल द्रव्य लिंगी,
तू नीच-देव बनता अयि, भव्य भंगी ॥१३॥

पार्श्वस्थ भाव, बहु बार विभाव भाया,
तूने मिला अमित काल वृथा बिताया ।
अज्ञान के वश दुराशय बीज बोया,
पा दुःख रूप फल ही, फलरूप रोया ॥१४॥

जो वैभवों वर गुणों सुख सिद्धियों को,
हैं श्रेष्ठ देव धरते सुर ऋद्धियों को ।
हो नीच देव दिवि में निज में बड़ों को,
तू देख मानसिक दुःख सहे अनेकों ॥१५॥

दुर्भाव धार मन में मदमत्त नामी,
चारों प्रकार विकथा करता सकामी ।
तू निन्द्य देव बनके बहुबार भोगा,
है कष्ट, दुष्ट मति से फिर और होगा ॥१६॥

बीभत्स है, अशुचि है, मल का पिटारा,
दुर्गंध धाम जननी-जनु गर्भ सारा ।
ले जन्म हे मुनि ! वहाँ बहुबार रोया,
नीचे किए शिर टँगा बहुकाल खोया ॥१७॥

यों काल तो भव भवों बहुमूल्य बीता,
जो भिन्न भिन्न जननी स्तन दूध पीता ।
जानो महाशय ! कभी वह दूध सारा,
लाखों गुना अधिक सागर से अपारा ॥१८॥

वे भिन्न भिन्न भव में तव मात रोती,
तू था मरा जब, तभी नहिं रात सोती ।
रोते हुए नयन से जल जो बहाया,
लाखों गुना अधिक सागर से कहाया ॥१९॥

जो हड्डियाँ झड़ गईं नख बाल छूटे,
तेरे कटे भव भवों नख नाल टूटे !
कोई सुसंग्रह मनो उनको करेगा,
तो साधु, मेरु गिरि से गुरु ही लगेगा ॥२०॥

भू व्योम में अनिल में, जल में वनों में,
नद्यादि में अनल में, थल में द्रुमों में ।
तू ने व्यतीत चिरकाल किया वृथा है,
हो कर्म के वश, सही जग में व्यथा है ॥२१॥

तृष्णा लगी पीड़ित तू विचारा,
त्रैलोक्य का सलिल पीकर पूर्ण डारा ।
तृष्णा मिटी न फिर उरकी इसी से,
शुद्धात्म चिंतन जरा करले रुची से ॥२२॥

हे बार बार, इक बार नहीं मरा है,
तू काय को अमित बार तजा धरा है ।
हे ! धीर साधु भवसागर में अनन्ता,
संत्यक्त काय गिनते गिनते न अन्ता ॥२३॥

भोगा गया सकल पुद्गल भोग खारा,
पूरा भरा कि जिससे त्रयलोक सारा ।
भाई तथापि नहिं तृप्ति हुई अभी भी,
भोगो पुनः तुम भले सुख ना कभी भी ॥२४॥

संक्लेश वेदन वशात् भय सप्त द्वारा,
औ रक्त स्राव विष भक्षण शस्त्र द्वारा ।
आहार-श्वास-अवरोधन से तुरन्ता,
हो आयु का क्षय कहें अरहन्त सन्ता ॥२५॥

हा अग्नि से तुम जले जल मध्य डूबे,
शीतातिशीत-हिम से बिन वस्त्र जूझे ।
उत्तुंग वृक्ष गिरि पे चढ़ते, गिरे थे,
टूटे तभी कर पगों भय से घिरे थे ॥२६॥

जाने बिना रस विधी विष सेवने से,
अन्याय कार्य कर-कर अनार्य जैसे ।
तिर्यञ्च हो मनुज हो अपमृत्यु पाई,
हैं आपने दुख सहे बहुबार भाई ॥२७॥

भाई निगोद गति में तुम जो गिरे थे,
अन्तर्मुहूर्त भर में दुख में परे थे ।
हा ! साठ औ छह सहस्र व तीन सौ औ,
छत्तीस बार मरते कुछ आज सोचो ॥२८॥

अन्तर्मुहूर्त भर में विकलेन्द्रि सारे,
अस्सी व साठ द्वय बीस भवों सुधारे ।
चौबीस क्षुद्र भव औ धरते विचारे,
पंचेन्द्रि जीव तक भी गुरु यों पुकारे ॥२९॥

ज्ञानादि रत्नत्रय के बिन ही मरे हो,
जो बार बार भव कानन में फिरे हो ।
ऐसे जिनेश कहते अब जाग जाओ,
सानन्द रत्नत्रय धार विराग पाओ ॥३०॥

आत्मा निजात्मरत ही सम दृष्टि वाला,
जो जानता स्वयम को वह बोध शाला ।
है आत्म में विचरता नित है सुहाता,
चारित्र पंथ स्वयमेव वही कहाता ॥३१॥

वैसे अनेक भव में मरता रहा है,
पै मृत्यु के समय में डरता रहा है ।
ले ले अतः मरण उत्तम का सहारा,
तो बार बार मरना मर जाय सारा ॥३२॥

तू द्रव्यलिंग भर बाहर मात्र धारा,
हा मृत्यु को श्रमण होकर भी न मारा ।
ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
तू ने जहाँ मरण जन्म नहीं गहा हो ॥३३॥

तू बाह्य मात्र अब लौ जिन लिंग धारा,
धारा न भाव मय लिंग कभी सुचारा ।
पीड़ा सही जनन मृत्यु तथा जरा से,
पाया अनन्त भव में सुख ना जरा से ॥३४॥

प्रत्येक आयु परिणाम सुनामकों को,
औ पुद्गलों क्षिति तलों समयादिकों को ।
तूने गहा पुनि तजा बहुबार भाई,
पीड़ा अनन्त भवसागर में उठाई ॥३५॥

लो तीन सौ फिर तियालिस राजु सारा,
है लोक का विदित क्षेत्र जिनेन्द्र द्वारा ।
वे छोड़, मेरु तल के वसु देश न्यारे,
सारे भ्रमे तुम यहाँ मर जन्म धारे ॥३६॥

तेरा शरीर प्रति, अंगुल भाग में ही,
धारे छियानव कुरोग सराग देही ।
हे मित्र ! शेष तन में कितने पता दे,
दुस्सह्य रोग गिनती गिनके बता दे ॥३७॥

हो कर्म के वश अतीत भवों भवों से,
तू ने सहे सकल रोग युगों युगों से ।
रागी रहा फिर अनागत में सहेगा,
क्या क्या कहें बहुत है भव में भ्रमेगा ॥३८॥

हैं पित्त मूत्र कफ माँस जहाँ भरे हैं,
हैं आँत गात नस जाल जिसे घिरे हैं ।
माँ के रहा उदर में नव मास भाई,
नीचे किए शिर टंगा चिर पीर पाई ॥३९॥

माँ बाप के रजस वीर्य घुला मिला था,
संकीर्ण गर्भ जिसमें न हिला डुला था ।
खाया हुआ जननि ने वह अन्न खाया,
उच्छिष्ट भोज करता महिनों बिताया ॥४०॥

नादान था शिशु रहा शिशुकाल में था,
तू खेलता नित निजी मल लार में था ।
सोता वहीं मल तजा मल खूब खाता,
आपाद कण्ठ मल में तब डूब जाता ॥४१॥

ये माँस मेद मद रक्त जहाँ भरे हैं,
हैं पित्त पीब नस नाल सड़े निरे हैं ।
दुर्गन्ध पूर्ण घट है यह काय तेरा,
ऐसा विचार नहिं तो टल जाये वेला ॥४२॥

संमोह-मुक्त, मुनि मुक्त वही कहाता,
ना, मुक्त-मात्र हितु बाँधव से, सुहाता ।
भाई तजो इसलिए उस वासना को,
भावो भजो नित निजीय उपासना को ॥४३॥

निर्ग्रन्थ हैं स्वतन से ममता नहीं है,
मानी रहा स्वयम में रमता नहीं है ।
आतापनादि तप बाह्यवती किया है,
मानों, तथापि शिव लाभ कहाँ लिया है ? ॥४४॥

निर्ग्रन्थ था मुनि बना मधु लिंग नामा,
पूरा निरीह तन से तज संग कामा ।
भावी निदान फिर भी उससे घिरा था,
श्रामण्य से इसलिए वह तो गिरा था ॥४५॥

वैसे वसिष्ठ मुनि भी बहु दुःख पाया,
भावी निदान मन से मन को लिपाया ।
ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
मोही यहाँ भटकता न फिरा जहाँ हो ॥४६॥

चौरासि लाख दुखदायक योनियों में,
ऐसा न थान अवशेष रहा भवों में ।
तूने जहाँ भ्रमण वास नहीं किया हो,
हो भाव शून्य मुनि, मात्र मृषा जिया हो ॥४७॥

तू द्रव्य लिंग भर से न कहाय लिंगी,
शुद्धात्म भाववश ही कहलाय लिंगी ।
तू भाव लिंग धर केवल द्रव्य में क्या ?
पी नीर, मात्र-जल भाजन डोर से क्या ? ॥४८॥

धिक्कार ! बाहु मुनि ने क्षण में मिटाया,
क्रोधाग्नि से नगर दंडक को जलाया ।
था बाह्यलिंग जिनलिंग लिया तथापि,
जाके गिरा नरक रौरव में कुपापी ॥४९॥

दीपायनादि मुनि भी इस भाँति क्रोधी
हो द्वारिका नगर दग्ध किया अबोधी ।
सम्यक्त्व बोध व्रत से च्युत, द्रव्य लिंगी,
संसार को दृढ़ किया, सुन भव्य ! अंगी ॥५०॥

वर्षों रही युवतियाँ जिन से घिरी थी,
तो भी यतीश मति को किसने हरी थी ?
थे भाव से श्रमण, मोक्ष गये विरागी,
वे धीर थे शिव कुमार मुनीश त्यागी ॥५१॥

थे द्वादशांग श्रुत चौदह पूर्व ज्ञाता,
वे भव्य सेन मुनि हो उपदेश दाता ।
पै भीतरी श्रमणता उनमें नहीं थी,
थी नग्नता न उर ऊपर में रही थी ॥५२॥

ये भिन्न-भिन्न तुष मास सदा सुहाते,
ऐसा विशुद्ध मन से रट थे लगाते ।
पाई अतः कि शिवभूति मुनीश भाई,
आत्मानुभूति शिव भूति, विभूति स्थाई ॥५३॥

जो भाव नग्न वह नग्न यथार्थ होता,
पै मात्र नग्न मुनी तो अयथार्थ थोथा ।
हो नग्न पूर्ण तन भी मन भी निहाला,
तो कर्म शीघ्र, कटते समझो सुचारा ॥५४॥

वो भाव की विमलता यदि है न प्यारी,
निर्ग्रन्थ रूप वह मात्र न कार्य कारी ।
यों जान मान मन आतम में लगा ले,
शुद्धात्म का गुन गुनाकर गीत गाले ॥५५॥

काषायिकी परिणती जिसने घटायी,
औ निन्द्य जान तन की ममता मिटायी ।
शुद्धात्म में निरत है तज संग-संगी,
है पूज्य साधु यह पावन भाव लिंगी ॥५६॥

बोले विशुद्ध मुनि यों निज तत्त्व पाऊँ,
त्यागूँ ममत्व परतत्त्व समत्व ध्याऊँ ।
आधार मात्र मम निर्मम आतमा है,
छोड़ूँ अशेष सब चूँकि अनातमा है ॥५७॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में,
औ प्रत्य-ख्यान-गुण में लसता गुरो ! मैं ।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का,
है पाक मोक्ष सुख है, दुख वासना का ॥५८॥

पूरा भरा दृग विबोध-मयी-सुधा से,
मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से ।
संयोग जन्य सब शेष विभाव मेरे !
रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ॥५९॥

हे भव्य चार गति से निज को छुड़ाना,
है चाहना यदि सुशाश्वत सौख्य पाना ।
तो शुद्ध भाव कर स्वीय स्वभाव भाना,
तू शीघ्र छोड़ परकीय विभाव नाना ॥६०॥

जो जानता सहज जीव यथार्थ में हैं,
होता विलीन निज जीव पदार्थ में है ।
पाता विमोक्ष द्रुत से कर निर्जरा को,
सो नाशता जनन मृत्यु तथा जरा को ॥६१॥

है जीव चेतन निकेतन है निराला
ऐसा जिनेश कहते वह ज्ञान-शाला ।
ज्ञातव्य जीव, इस लक्षण धर्म द्वारा,
शीघ्रातिशीघ्र मिटता वसु कर्म-भारा ॥६२॥

जीवत्व का वह अभाव न सर्वथा है,
सिद्धत्व में, विमल जीवपना रहा है ।
पाता विमोक्ष द्रुत से कर निर्जरा को,
सो नाशता जनन मृत्यु तथा जरा को ॥६३॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से रहित है सुख का पिटारा ॥६४॥

सद्ज्ञान पंच विध है उसको अराधो,
निर्वेग भाव धर के यह कार्य साधो ।
अज्ञान रूप तम निश्चित भाग जाता,
हो स्वर्ग-मोक्ष सुख केवल जाग जाता ॥६५॥

क्या शास्त्र के पठन पाठन से मिलेगा,
संवेग भाव बिन कर्म नहीं टलेगा ।
श्रामण्य श्रावकपना शिव-ज्ञान हेतु,
वैराग्य भाव जब हो, यह जान रे ! तू ॥६६॥

ये नारकी पशु तथा कुछ आदिवासी,
होते दिगम्बर नितान्त सुखाभिलाषी ।
पै चित्त में कुटिल कालुष भाव धारे,
हैं भीतरी श्रमणता न धरे विचारे ॥६७॥

जो मात्र नग्न बन जीवन है बिताता,
संसार में भटकता भव दुःख पाता ।
पाता न बोधि वह केवल नग्न साधू,
यों साम्य का गंध बना न कदापि स्वादु ॥६८॥

प्रायः प्रदोष परके परको बताते,
माया व हास्य मदमत्सर धार पाते ।
वे पात्र हैं अयश के अघ के घड़े हैं,
जो नग्न हैं श्रमण मात्र बढ़े चढ़े हैं ॥६९॥

वैराग्य भाव जल से मन पूर्ण धोलो,
निर्ग्रन्थ लिंग धरने सब वस्त्र खोलो ।
होता अवश्य उर में जिसके विकारा,
लेता वही पर परिग्रह का सहारा ॥७०॥

है लोप कोप वृष रूप-सुधा न पीते,
है इक्षु पुष्प सम सार विहीन जीते ।
जो नग्न हो श्रमण हो नट नाचते हैं,
वे निर्गुणी विफल हो नहिं लाजते हैं ॥७१॥

हैं रंग संग रखता परमें रमा हैं,
है नग्न किन्तु, न विराग, निराभ्रमा है ।
पाता नहीं सहज बोधि समाधि प्यारा,
यों कुन्द-कुन्द जिन आगम ने पुकारा ॥७२॥

वैराग्य से हृदय नग्न बने सलोना,
मिथ्यात्व आदि मल कर्दम पूर्व धोना,
निर्ग्रन्थ रूप फिर सादर धार लो ना,
सो ही जिनेन्द्र मत के अनुसार होना ॥७३॥

सद्भाव को श्रमण हो नहिं धार पाता,
दुष्टाष्ट कर्म मल को मन पे लिपाता ।
तिर्यञ्च हो भटकता अघ धाम रागी,
सद्भाव, स्वर्ग-शिव-धाम सुनो विरागी ॥७४॥

चक्री बनो अमर हो, सुरसम्पदाएँ,
लक्ष्मी मिले अमित दिव्य विलासताएँ ।
सद्भाव से परम पावन प्राण प्यारे,
ज्ञानादि रत्न मिलते सुख के पिटारे ॥७५॥

होता त्रिधा वह शुभाशुभ शुद्ध न्यारा,
है आत्म भाव जिन शासन ने पुकारा ।
जो धर्म ध्यान मय है शुभ है कहाता,
दुर्ध्यान सो अशुभ है न मुझे सुहाता ॥७६॥

आत्मा निजी विमल आतम लीन होता,
सो शुद्ध भाव, विधि-कालुष पूर्ण धोता ।
जो श्रेष्ठ इष्ट इनमें चुन भव्य प्राणी,
ऐसा जिनेश कहते मुनि-सेव्य-ज्ञानी ॥७७॥

सत् साधु ने दुखद मान गला दिया है,
स्वीकार साम्य, सब मोह जला दिया है ।
आलोक धाम जगसार जिसे मिलेगा ?
बोले प्रभो ! यह नियोग नहीं टलेगा ॥७८॥

पंचाक्ष के विषय को तज वासनाएँ,
जो भा रहे श्रमण षोडश भावनाएँ
वे शीघ्र तीर्थंकर नामक कर्म बाँधे,
औचित्य कार्य करते सुख क्यों न साधे ॥७९॥

सारे तपो सुतप द्वादश पर्वतों से,
पालो त्रयोदश क्रिया मन याक तनों से ।
है ! साधु ज्ञान मय अंकुश से विदारो,
दुर्भाव बिना गज के मद को उतारो ॥८०॥

वैराग्य भाव मन में बह बार भाना,
पश्चात् विशुद्ध जिन लिंग अहो निभाना ।
खाना यथाविधि, धरा पर रात सोना,
होना द्विसंयम, बिना पर गात होना ॥८१॥

हीरा अमूल्य मणि है मणि जातियों में,
विख्यात चन्दन रहा द्रुम ख्यातियों में ।
त्यों जैन धर्म बहु धर्म प्रणालियों में,
है श्रेष्ठ भाविभव नाशक, हो उरों में ॥८२॥

संमोह क्षोभ बिन शोभित हो रहा है,
सो धर्म, आत्म परिणाम अहो रहा है ।
औ दान पूजन तथा व्रत पालना ये,
है पुण्य, जैन मत में शुभ भावनाएँ ॥८३॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहे तथापि जड़धी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥८४॥

जो सर्व दोष तज के निज में रमा है,
नीराग आतम निजातम में समा है ।
संसार में तरण-तारण धर्म नौका,
"सोही" "जिनागम" कहे जग में अनोखा ॥८५॥

पै पुण्य का चयन ही करता कराता,
श्रद्धान आत्म पर चूँकि नहीं जमाता ।
पाता न सिद्धि शिव है प्रतिकूल जाता,
संसार में भटकता यति भूल जाता ॥८६॥

श्रद्धा निजात्म पर पूर्ण करो इसीसे,
वाक्काय से विनय से मन से रुचि से ।
हो ध्यान ज्ञान अनुचिन्तन भी उसी का,
हो मोक्ष, शीघ्र, फिर पार नहीं खुशी का ॥८७॥

हो भाव से मलिन तन्दुल मच्छ पापी,
जा सातवें नरक में गिरता तथापि ।
हो जा अतः निरत स्वीय गवेषणा में,
श्रद्धा समेत रुचि से जिन देशनामें ॥८८॥

आतापनादि तपना गिरि कन्दरों में,
औ बाह्य संग तजना रहना वनों में ।
स्वाध्याय ध्यान करना परसे कराना,
ये व्यर्थ हैं श्रमण के बिन साम्य बाना ॥८९॥

जीतो निजी सकल इन्द्रीय फौज वैरी,
बाँधो अकम्प मन मर्कट चूँकि स्वैरी ।
निर्ग्रन्थ हो मत करो जनरंजना ना !
पे आत्म रंजन करो न प्रपंच नाना ॥९०॥

मिथ्यात्व को समझ हेय विसारना है,
औ नो कषाय नव को सब त्यागना है ।
सत शास्त्र चैत्य गुरु भक्ति सँभारना है,
आज्ञा जिनेश मत की नित पालना है ॥९१॥

स-मार्ग तीर्थ करने पहले बताया,
सत शास्त्र बार गुण नायक ने रचाया ।
गणी भानुनन्द शशि है श्रुत ज्ञान प्यारा,
न निज भक्ति उसको कर भाव सारा ॥९२॥

सत शास्त्र का मनन सादर साथ पीते,
हो प्यास त्रास उर दाह-विहीन जीते ।
चूड़ामणी जगत के स्वपराव-भासी,
वे सिद्ध शुद्ध बनते शिवधाम-वासी ॥९३॥

तू त्याग काय पर, त्याग प्रमाद सारा,
बाईस दुस्सह परीषह कष्ट भारा ।
शास्त्रानुसार वह भी बन अप्रमादी,
हो ध्यान ! संयम नहीं बिगड़े समाधि ॥९४॥

निर्ग्रन्थ साधु उपसर्ग परीषहों से,
भाई कदापि बिगते नहिं पर्वतों से ।
हो दीर्घ काल तक भी जल में तथापि,
पाषाण है कठिन क्या गलता कदापि ॥९५॥

भा पंच विंशति सुपावन-भावनाएँ ।
भा सर्वदा सुखद द्वादश भावनाएँ ।
रे ! भाव शून्य करनी किस काम आती,
ना मात्र वो नगनता सुख है दिलाती ॥९६॥

तूने तजा यदपि संग तथापि, क्या है ?
तत्वार्थ, औ नवपदार्थ यथार्थ क्या है ?
क्या-क्या स्वरूप कब जीव-समास धारें,
तू जान ! चौदह निरे गुणथान सारे ॥९७॥

अब्रह्म है दश विधा उसको हटाना,
है ब्रह्मचर्य नवधा जिसको निभाना ।
आदी हुआ मिथुन के दुख से घिरा है,
संसार के सघन कानन में फिरा है ॥९८॥

वैराग्य भाव जिसके मन में लसे हैं,
आराधना वरण भी करती उसे हैं
वैराग्य से स्खलित है मुनि कष्ट पाता,
संसार को सघन और तभी बनाता ॥९९॥

है भाव से श्रमण है जग नाम पाता,
कल्याण पंच करता शिव धाम जाता ।
पै बाह्य में श्रमण केवल ना सुहाता,
होता कुदेव-पशु मानव दु:ख पाता ॥१००॥

जिह्वेन्द्रि के वश हुआ निज को भुलाया,
छ्यालीस दोषयुत भोजन को उड़ाया ।
तूने अत: विधिवशात् बहुदु:ख पाया,
तिर्यञ्च हो विगत में कब सौख्य पाया ॥१०१॥

खा, पी लिया सचित भोजन पेय पानी,
हो लोलुपी सरस का मति मंद मानी ।
तीव्रातितीव्र फलत: दु:खही उठाया,
तू सोच आज चिरकाल वृथा बिताया ॥१०२॥

बीजादि पत्र फल-फूल समूल खाया,
खाके सचित्त फिर भी मद ही दिखाया ।
हा ! हा ! अनन्त भव में भ्रमता फिरा है,
कीड़ा बना विषय में रमता निरा है ॥१०३॥

है पाँचधा विनय सो, त्रययोग द्वारा,
पालो उसे विनय जीवन हो तुम्हारा ।
[illegible] भवितव्यता भव फल पाता,
है भूलता धरम को पतितत्व पाता ॥१०४॥

श्रद्धा समेत जिन भक्ति वितीन प्यारे,
आचार्य आदि दश ये बुध सेव्य सारे ।
भाई यथा बल यथा विधि साधु सेवा,
सद भक्ति राग वश होकर तू सदैवा ॥१०५॥

जो भी प्रदोष व्रत में त्रय योग द्वारा,
मानो लगा जब हुआ उपयोग खारा ।
धिक्कारते स्वयम् को गुरु पास बोलो,
मायाभिमान तज के, उर भाव खोलो ॥१०६॥

ये मुनी कदुक, कर्ण कठोर कानी,
देते, सदैव सहते शम-साम्यशाली ।
वैराग्य से श्रमण शोभित हो रहे हैं,
जो काटने विधि, प्रलोभित हो रहे हैं ॥१०७॥

साधू क्षमा रमणि में रमते रमाते,
संपूर्ण पाप पल में फलत: मिटाते ।
विद्याधरों नरवरों, असुरों सुरों के,
होते नितान्त स्तुति-पात्र मुनीश्वरों के ॥१०८॥

धारो क्षमा गुण, क्षमा जग जन्तुओं से,
माँगो, करो, विनय से मन वाक्तनों से ।
क्रोधाग्नि से चिर तपा उर है तुम्हारा,
सींचो क्षमा सलिल से फिर शान्ति धारा ॥१०९॥

सम्यक्त्व शुद्ध अविकार अहो सुधारो,
दीक्षा गही समय को स्मृति से निहारो ।
निस्सार सार तम क्या समझो सयाने,
हीरे समा विमल केवलज्ञान पाने ॥११०॥

नग्नत्व आदि जड़ बाहर लिंग धारो,
हो के परन्तु भवभीत स्व को निहारो ।
हो भाव लिंग बिन द्रव्य न कार्यकारी,
वैराग्य से मति करो अनिवार्य प्यारी ॥१११॥

आहार संग भय मैथुन चार संज्ञा,
होके विलीन इनमें तज आत्म प्रज्ञा ।
संसार के सघन कानन में भ्रमे हो,
खोये युगों युग युगों पर में रमें हों ॥११२॥

मैदान में शयन आसन भी लगाना,
आतापनादि तपना तरुमूल पाना ।
मूलोत्तरादि गुण को रुचि से निभाना,
पै ख्याति लाभ यश को मन में न लाना ॥११३॥

है आद्य कार्य निज तत्त्व अहो पिछानो,
औ आस्रवादिक अशेष सुतत्त्व जानो ।
शुद्धात्म में तुम रमो ध्रुव नित्य प्यारा,
धर्मार्थ काम मिटते, त्रय योग द्वारा ॥११४॥

तू तत्त्व-भाव-जल से नहिं सिंचता है,
औचित्य को न जब लौ यदि चिंतता है ।
होते नहीं जनन-मृत्यु जरा जहाँ पे,
हे ! मित्र, जा, न सकता शिव में वहाँ पे ॥११५॥

ये जीव के, समझ ले परिणाम सारे,
जो पाप रूप कुछ हो कुछ पुण्य प्यारे ।
जो बंध गाथा निज के परिणाम द्वारा,
गाता जिनेश मत है अभिराम प्यारा ॥११६॥

मिथ्या असंयम कषाय कुयोग लेश्या,
जो भी इन्हें धर रहा कर संक्लेशा ।
बाँधे वही अशुभ कर्म नितान्त मोही,
जो हे जिनेश मत अति दूर द्रोही ॥११७॥

सम्यक्त्व संयम यमादिक धारते हैं,
वे पुण्य बंध करते, मन मारते हैं ।
संक्षेप से विविध है विधि बंध गाथा,
गाता जिनेश मत सुन्दर गीत गाता ॥११८॥

जो ज्ञान आवरण आदिक अष्ट कर्मों,
से हैं बँधा सुचिर से तज आत्म धर्मों,
चैतन्य आदिक अनन्त निजी गुणों को,
देखूँ सही, अब जता विधि के गणों को ॥११९॥

सारे अठारह सहस्र सुशील होते,
चौरासिलाख गुण उत्तर पूर्ण होते ।
भावो इन्हें सतत ये शुचि भावना है,
क्या व्यर्थ के कथन से ? कुछ लाभ ना है ॥१२०॥

रे आर्त-रौद्रमय ध्यान अवश्य छोड़ो,
पै धर्म से शुकल से मन मात्र जोड़ो ।
दुर्ध्यान तो सुचिर से कर ही रहे हो,
जो बार-बार भव में मर ही रहे हो ॥१२१॥

वे भाव से श्रमण, ध्यान-कुठार द्वारा,
काटे सुशीघ्र भव वृक्ष समूल सारा ।
जो मात्र नग्न मुनि इन्द्रिय दास होते,
संसार-वृक्ष-जड़ में जल और देते ॥१२२॥

ज्यों दीप, गर्भ-घर में बुझता नहीं है,
उद्दीप्त हो, जबकि वायु चली नहीं है ।
त्यों ध्यान दीपक अकम्प सही जलेगा,
औचित्य ! रागमय वात नहीं चलेगा ॥१२३॥

सर्वोत्तमा शरण मंगल चार प्यारे,
पूजें जिन्हें खग खगेन्द्र सुरेन्द्र सारे ।
आराधना सुगुण नायक हैं गुरों को,
ध्याओ सदा विनय से परमेष्ठियों को ॥१२४॥

विज्ञान का विमल शीतल नीर पीते,
सद्भाव से भरित भव्य सुधीर जीते ।
वे आदि व्याधि मृति जन्म जरादिकों से,
होते विमुक्त, शिव हो लसते गुणों से ॥१२५॥

है पूर्णतः जल गया यदि बीज बोओ,
औचित्य ! अंकुरित भूतल में न हो वो ।
लो कर्म बीज-इकबार अहो जलेगा,
भाई ! भवाँकुर पुनः उग ना सकेगा ॥१२६॥

जो भाव से श्रमण है शिव धाम जाता,
हो मात्र बाह्य मुनि ना सुख त्राण पाता ।
यों जान मान गुण दोष सही सुचारा,
भावात्मिका श्रमणता भज विश्व-सारा ॥१२७॥

तीर्थंकरों गणधरों हलधारियों के,
उत्कृष्ट अभ्युदय है दिवबासियों के
जो भाव से श्रमण है, अनिवार्य पाते ।
संक्षेप से, सुन सखा! जिन आर्य गाते ॥१२८॥

वे धन्य धन्य तम हैं, तज संग संगी,
सम्यक्त्व बोध व्रत से शुचि भावलिंगी ।
है साधु निष्कपट भी त्रययोग द्वारा,
बन्दूँ उन्हें विमल हो उपयोग प्यारा ॥१२९॥

वे ऋद्धि-सिद्धि, खगदेव भले दिखाले,
आ पास किंपुरुष किन्नर गीत गाले ।
सम्यक्त्व से सहित श्रावकभी ऋषि से,
हो मुग्ध लुब्ध न प्रभावित हो किसी से ॥१३०॥

है मोक्ष को सजल लोचन सिंचते हैं,
है जानते मनस से नित चिंतते हैं ।
ऐसे मुनीश मन मोहित क्या करेगा, ?
स्वर्गीय स्वल्प सुख वो फिर क्या करेगा ? ॥१३१॥

रोगाग्नि, देह घर ना जब लौं जलाती,
दुर्वार मारक जरा जबलौं न आती ।
पंचेन्द्रियाँ शिथिल हो जबलौं नहीं हैं,
रे आत्मका हित करो सुघड़ी यही है ॥१३२॥

तू विश्व जीव पर धार दया सुधारा,
सारे अनायतन त्याग त्रियोग द्वारा ।
तेरा उपास्य बन जाय ''महान सत्ता'',
जो सर्व-जीव-मत-चेतन-ज्ञान वत्ता ॥१३३॥

संभोग सौख्य सबने त्रस स्थावरों को,
खाये अनन्त तुमने जग जन्तुओं को ।
ऐसा अतीत भरमें चिरकाल बीता,
संसार में भटकता नहिं काल जीता ॥१३४॥

चौरासि लाख इन कुत्सित योनियों में,
तू जन्म ले मर मिटा कि भवों-भवों में ।
क्या ज्ञात है कि दुःख कारण क्या रहा है,
हे मित्र ''प्राणिवध'' कारण ही रहा है ॥१३५॥

सद्भाव से अभयदान, चराचरों को,
देवो, सदा शुचि बना मनवाक्तनों को ।
''कल्याण पंच'', फलरूप परम्परा से,
पावो मुनीश मुकती, मृति से जरा से ॥१३६॥

हैं वाद सर्व किरिया शत और अस्सी,
बत्तीस वाद विनयी अक्रिया चवस्सी ।
अज्ञानवाद सडसष्ट अहो पुकारे,
ये वाद, तीन शत औ त्रय साठ सारे ॥१३७॥

सद्धर्म का श्रवण भी करता तथापि,
छोड़े अभव्य न अभव्यपना कदापि ।
मिश्री मिला यदपि पावन दूध पीता,
पै सर्प दर्प विष से रहता न रीता, ॥१३८॥

लेता सदोष मत को जड़धी सहारा,
मिथ्यात्व से ढक गया उर नेत्र सारा ।
सिद्धान्त में बस अभव्य रहा वही है,
श्री जैन धर्म जिसको रुचता नहीं है ॥१३९॥

सेवा कुसाधुजन की करता मुधा है,
सो ही कुधर्म मत में रत सर्वदा है ।
है तापसी कुतप ही तपता वृथा है,
हो पात्र हा कुगति का सहता व्यथा है ॥१४०॥

मिथ्यात्व से भ्रमित दुर्जन संग पाया,
भाई तुझे कुनय आगम ने ठगाया ।
संसार में फिर रहा चिर काल से तू,
हे धीर सोच चलना ! निज चाल ले तू ॥१४१॥

पाखंडि वाद त्रय सौ त्रय साठ खारे,
उन्मार्ग हैं तुम इन्हें तज दो विसारो ।
सौभाग्य ! जैन पथ पे निज को चलाओ,
रे वाक् विलास बस हो ! मन से भुलाओ ॥१४२॥

सम्यक्त्व के बिन मुनी शव ही कहाता,
है मात्र नग्न चलता फिरता दिखाता ।
मोही त्रिलोक भर में वह निंद्य होता,
आत्मा उड़ा, शव कहाँ कब वंद्य होता ॥१४३॥

जैसा शशी उजल तारक के गणों में,
जैसा मृगेन्द्र बलवान रहा मृगों में ।
सम्यक्त्व भी परम श्रेष्ठ सभी गुणों में,
माना गया कि मुनि श्रावक के व्रतों में ॥१४४॥

धारा फणा मणि विशेष सुलाल ऐसा,
होता सुशोभित फणाधर राज जैसा ।
वैसा सुशोभित सदा जिन भक्त होता,
सन्मार्ग में विमल दर्शन युक्त होता ॥१४५॥

तारा समूह नभ में जब जन्म पाता,
वो पूर्ण चन्द्र जिस भाँति हमें सुहाता ।
निर्ग्रन्थ लिंग उस भांति लसे सुचारा,
सम्यक्त्व-शुद्ध तप ले व्रत युक्त प्यारा ॥१४६॥

मिथ्यात्व दोष, गुण दर्शन को विचारो,
भाई सुरत्न, समदर्शन को सुधारो ।
सोपान आदिम शिवालय का रहा है,
औ सारभूत गुण रत्न यही अहा है ॥१४७॥

कर्ता, अमूर्त, निज देह प्रमाण वाला,
भोक्ता, अनादि अविनश्वर, जीव प्यारा
विज्ञान दर्शनमयी उपयोग प्याला,
ऐसा कहें जिन करें जग में उजाला ॥१४८॥

मोहादि घाति विधि के दल को मिटाते,
वे भव्य साधु जिन लिंग धरे सुहाते ।
वैराग्य से लस रहे 'दृग पूर्ण खोले,
तू खास दास उनका अयि चित्त होले ॥१४९॥

ज्यों चार घाति अघ-कर्म विनाशते हैं,
त्यों लोक पूरण अलोक प्रकाशते हैं ।
दृक् ज्ञान सौख्य बल ये प्रकटे गुणों से,
होते सुशोभित अनन्त चतुष्टयों से ॥१५०॥

लो कर्म मुक्त बनता जब आत्मा है,
होता सुनिश्चित वही परमातमा है ।
ज्ञानी वही शिव चतुर्मुख ब्रह्म भी है,
सर्वज्ञ विष्णु परमेष्ठि निजात्म ही है ॥१५१॥

हो घाति कर्म दल से, जब मुक्त स्वामी,
प्यारे अठारह सदोष-विमुक्त नामी ।
त्रैलोक्य दीप तुम ही अति दिव्य देही !
तो बोधि उत्तम बनूँ फलतः विदेही ॥१५२॥

सद्भाव से भ्रमर हो निशियासरों में,
होता विलीन जिनके पद पंकजों में ।
आमूल-जन्म लतिका झट काटता है,
वैराग्य शस्त्र बल से शिव साधता है ॥१५३॥

ज्यों शोभता कमलिनी दृग मंजु पत्र,
हो नीर में, न सड़ता रहता पवित्र ।
त्यों लिप्त हो विषय से न मुमुक्षु प्यारे,
होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥१५४॥

नाना कला गुण विशारद हो निहाला,
मानूँ उगे मुनि, सुसंयम शील वाला ।
पै दोष कोष बस केवल नग्न साधू,
साधू रहा न वह श्रावक भी न ! स्वादू ! ॥१५५॥

तीखी क्षमा दम मयी असि हाथ धारे,
वे धीर, नीर-निधि से मुनि वीर प्यारे ।
दुर्जेय उद्धत कषाय-बली, भटों को,
हैं जीतते सुचिर कालिन संकटों को ॥१५६॥

पंचाक्ष के विषय के मकराकरों में,
थे डूबते पतित भव्य भवों-भवों में ।
विज्ञान दर्शनमयी कर का सहारा,
दे, धन्य ईश उस पार जिन्हें उतारा ॥१५७॥

उत्तुंग मोह तरु पे लिपटी चढ़ी है,
मायामयी विषम बेल घनी बढ़ी है ।
फूले खिले विषय फूल जहाँ जिसे वे,
काटे विरोध असि से मुनि हा ! न सेवे ॥१५८॥

कारुण्य से यदपि पूर्ण भरे निरे हैं,
संमोह मान मद गौरव से परे हैं ।
चारित्र खड्ग कर लेकर, काटते हैं,
सम्पूर्ण-पाप मय स्तंभ न हाँफते हैं ॥१५९॥

ज्यों पूर्ण पौर्णिम शशी नभ में सुहाता,
तारा समूह जिसको जब घेर पाता ।
त्यों श्री जिनेश मत के नभ में दिखाते,
धारे सुमाल गुण की मुनि चन्द्र भाते ॥१६०॥

होते जिनेन्द्र अमरेन्द्र नरेन्द्र चक्री,
हो राम तीर्थंकर केशव अर्ध चक्री,
वे ऋद्धि-सिद्धि गहते मुनि, संग त्यागी,
होते गणेश ऋषि तारण है विरागी ॥१६१॥

अत्युज्वला अतुल निर्मल है निहाला,
उत्कृष्ट सिद्धि सुख है शिव शील वाला ।
वार्धक्य भी मरण भी जिसमें न भाते,
साधू विराग जिसको अविलम्ब पाते ॥१६२॥

नीराग हैं नित निरंजन हैं निराले,
है सिद्ध शुद्ध जग पूजित, पूज्य सारे ।
दे, वे मुझे विमल भाव, कषाय धोऊँ
सम्यक्त्व-बोध-व्रत में रत नित्य होऊँ ॥१६३॥

ये धर्म अर्थ पुनि काम विमोक्ष चारों,
हैं भाव पे निहित यों तुम तो विचारो ।
मंत्रादि सिद्धि सब भी बस !! भाव से हो,
कोई प्रयोजन नहीं बकवाद से हो ॥१६४॥

सर्वज्ञ ने प्रथम तो सब जान पाया,
सद्'भाव-प्राभृत' पुनः हमको सुनाया ।
जो भी पढ़ें यदि सुनें अविराम भावें,
औचित्य, नित्य स्थिर शाश्वत धाम पावें ॥१६५॥

- दोहा -

निजी भाव ही दुःख हैं, निजी भाव सुख कूप ।
भव-भव भ्रमते भाव से, भूल रहे निज रूप ॥१॥

दुःख से बचना चाहते, तजो परिग्रह भाव
नग्न हुए बिन शिव नहीं, बिना निजातम भाव ॥२॥

मोक्ष पाहुड

देवाधिदेव जिनदेव बने हुए हैं,
आत्मीय-ज्ञान धन पाय तने हुए हैं ।
सर्वस्व-त्याग परका विधि को मिटाते,
बन्दूँ उन्हें विनय से शिर को झुकाते ॥१॥

मैं वन्दना कर इन्हें, जिनदेव प्यारे,
सच्चे अनन्त दृग बोध स्वयं सुधारें ।
उत्कृष्ट योगिजन को रुचि से सुनाता,
जो श्रेष्ठ रूप परमातम, का सुहाता ॥२॥

जो पूर्व, जान परमातम, योग धोते,
योगी सुयोग रत ही अविराम होते ।
निर्वाण प्राप्त करते सुख रूप साता,
निर्बाध शाश्वत अनन्त अनूप भाता ॥३॥

बाह्यात्म और परमातम अन्तरात्मा,
आत्मा त्रिधा सब, तजो तुम बाह्य आत्मा ।
है अन्तरातम उपाय उसे सुधारो,
ध्याओ सदैव परमातम को निहारो ॥४॥

मैं हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता,
जो कर्म मुक्त परमातम देव साता ।
चैतन्य धाम मुझ से तन है निराला
यों अन्तरात्म कहता समदृष्टि वाला ॥५॥

होते अतीन्द्रिय अनिंद्य अकाय प्यारे,
शुद्धात्मा मात्र, विधि-पंक विमुक्त सारे ।
शोभे सदा शिव शिवंकर सिद्ध स्थाई,
माने गये परम इष्ट, जिनेश, भाई ॥६॥

वाक्काय से मनस से तज बाह्य आत्मा,
सौभाग्य है ! तुम बनो शुचि अन्तरात्मा ।
ध्यावो उसे परम आतम जो सुहाया,
प्राप्तव्य मात्र वह है, जिनने बताया ॥७॥

वो मूढ़ दृष्टि, मन-इन्द्रिय-दास मोही,
"आत्मा" स्वयं समझता निज देह को ही ।
आत्मीय बोध च्युत है, फलतः भ्रमा है,
बाह्यार्थ में, रच पचा पर में रमा है ॥८॥

है अन्य का स्वतन सा तन देख सोही,
सेवा सदैव करता उसकी विमोही ।
वो वस्तुतः तन अचेतन ही रहा है,
भूला उसे तदपि चेतन ही गहा है ॥९॥

यों देह में स्वपर भान लिए दिखाते,
आत्मा जिन्हें विदित है न यथार्थ पाते ।
माता पिता सुत सुता निज बाँधवों में,
हैं मोह और करते वनितादिकों में ॥१०॥

ना-ना कुबोध भर में रममान होता,
मिथ्या-विभाव वश मानव मान ढोता ।
संमोह के उदय से यह लोक में भी,
माने अभीष्ट तन को परलोक में भी ॥११॥

आरम्भ से रहित निर्भय है विरागी,
निर्द्वन्द्व, राग रखते तन में न त्यागी ।
योगी नितान्त निज में रममान होता,
हो मोक्ष-ओर फलतः गम मान होता ॥१२॥

जो राग से सहित है, विधि बंध पाता,
होता विराग, विधि मुक्त अनन्त ज्ञाता ।
हैं मुक्ति की यह तथा विधि बंध गाथा,
संक्षेप से यह जिनागम यों बताता ॥१३॥

तल्लीन जो श्रमण स्वीय पदार्थ में है,
साधू नितान्त समदृष्टि यथार्थ में हैं ।
सम्यक्त्व मंडित हुआ निज में सुहाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को क्षण में मिटाता ॥१४॥

तल्लीन साधु परकीय पदार्थ में हो,
मिथ्यात्व दृष्टि वह क्यों यथार्थ में हो ।
मिथ्यात्व मंडित, नहीं निज धर्म पाता,
है बार-बार फलतः वस कर्म पाता, ॥१५॥

लेना निजाश्रय सुनिश्चित मोक्षदाता,
होता पराश्रय दुरन्त अशांति-धाता ।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो तुम्हारी,
देहादि में, अरुचि ही शिव सौख्यकारी ॥१६॥

जो भी सचेतन अचेतन मिश्र सारे,
शुद्धात्म के धरम से अति भिन्न न्यारे ।
ऐसा हमें सदुपदेश अहो सुनाया,
सन्मार्ग को निखिल-दर्शक ने दिखाया ॥१७॥

है वस्तुतः अतुल-निर्मल-शील वाला,
दुष्टाष्ट कर्म बिन ज्ञान-शरीर-धारा ।
अत्यन्त शुद्ध निज आतम द्रव्य भाता,
ऐसा जिनेश कहते, निज-द्रव्य-धाता ॥१८॥

संलग्न पूर्ण जिनके पथ में हुए हैं,
औ पूर्णतः विमुख भी पर से हुए हैं ।
सद्ध्यान, आत्म भर का करते सदा हैं,
पाते विमोक्ष धरते व्रत सम्पदा हैं ॥१९॥

योगी जिनेश मत के अनुसार ध्याता,
शुद्धात्म-ध्यान मन में यदि धार पाता ।
निर्वाण लाभ उसको मिलता यदा है,
आश्चर्य क्या न मिलती सुरसम्पदा है ? ॥२०॥

सौ कोश एक दिन में चलना भले से,
ले के स्वकीय शिर पे गुरु भार वैसे ।
क्या अर्ध कोस उसको न निभा सकेगा ?
शंका नहीं वह नितान्त निभा सकेगा ॥२१॥

दुर्जेय कोटि भट है रण में खड़ा है,
जीता न जाय भट कोटिन से अड़ा है ।
क्या एक मल्ल भट जीत उसे सकेगा,
कैसा असम्भव सुसम्भव हो सकेगा ? ॥२२॥

घोरातिघोर तप से तन को तपाते,
प्रायः सभी अमर हो मुनि स्वर्ग पाते,
सद्ध्यान से सुर बने यदि स्वर्ग जाते ।
आगे नितान्त शिव शाश्वत सौख्य पाते ॥२३॥

अग्न्यादि का यदि सुयोग्य सुयोग पाता,
पाषाण हेम-मय, हेम बने सुहाता ।
कालादि योग्य जब साधन-प्राप्त होता,
आत्मा अवश्य परमातम आप्त होता ॥२४॥

अच्छा, व्रतादिक तथा, सुर-सौख्य पाना,
स्वच्छन्दता अति बुरी, फिर श्वभ्र जाना ।
अत्यन्त-अन्तर व्रताव्रत में रहा है,
छाया-सुधूप-द्वय में जितना रहा है ॥२५॥

चाहो भयंकर भवार्णव तैर जाना !
चाहो यहाँ अब नहीं भव दुःख नाना ।
ध्याओ उसे शुचि निजातम है सुहाता,
जो शीघ्र कर्म-मय ईंधन को जलाता ॥२६॥

साधू कषाय-घट को झट फोड़ते हैं
संमोहराग मद गारव छोड़ते हैं
वे त्याग लोक व्यवहार सदा सुहाते,
हैं ध्येय भूत निज ध्यान अतः लगाते ॥२७॥

अज्ञान से विमुख हो जिन राह जागें,
मिथ्यात्व पाप सब पुण्य विभाव त्यागें,
सानन्द मौन व्रत गुप्ति तथा निभावें,
योगी सुयोग रत आतम को दिपावें ॥२८॥

जो भी मुझे दिख रहा जग रूप न्यारा,
सो जानता न कुछ भी जड़-कूप सारा ।
मैं तो अमूर्त नित ज्ञायक शील बाला,
कैसे करूँ कि, किससे कुछ बोल चाला ॥२९॥

वह कर्म का सतत आस्रव रोक पाता,
है पूर्व संचित तभी विधि को खपाता ।
योगी सुयोगरत हो, जिन यों बताते,
योगी बनों तुम धरो दृढ़ योग तातै ॥३०॥

होता सुजागृत वही निज कार्य में है,
सोता हुआ सतत लौकिक कार्य में है ।
जो जागता सतत लौकिक कार्य में है,
सोता वही सतत आत्मिक कार्य में है ॥३१॥

योगी सदैव इस भाँति विचारता है,
सारा असार व्यवहार विसारता है ।
जो भी जिनोक्त परमात्मपना उसी में,
होता विलीन रत, भूल न ओ किसी में ॥३२॥

ये पंच पाप तज पंच महाव्रतों को,
पालो सदा समिति पंच त्रिगुप्तियों को ।
ज्ञानादि रत्न त्रय में मन को लगाओ,
स्वाध्याय ध्यानमय जीवन ही बिताओ ॥३३॥

आराधना वह रही निज के गुणों की,
आराधना कर रहा दृग-आदिकों की ।
माना गया विमल केवल ज्ञान दाता,
आराधना-मय-विधान मुझे सुहाता ॥३४॥

है शुद्ध, सिद्ध निज आतम विश्वदर्शी,
सर्वज्ञ है, पर नहीं पर द्रव्य स्पर्शी ।
जानो उसे सदन केवल ज्ञान का है,
ऐसा कहे जिन, निधान प्रमाण का है ॥३५॥

योगी जिनेश मत के अनुसार भाता,
ज्ञानादि रत्न त्रय सो उरधार पाता ।
शुद्धात्म-ध्यान सर में डुबकी लगाता,
निर्भ्रान्त शीघ्र मन के मल को मिटाता ॥३६॥

जो जानता स्वपर को वह ज्ञान भाता
जो देखता सहज दर्शन नाम पाता ।
जो पाप पुण्य पर को जड़ से मिटाता,
सिद्धान्त में विमल चारित वो कहाता ॥३७॥

सम्यक्त्व, तत्त्व भर में रुचि नाम पाता,
तत्त्वार्थ का ग्रहण ज्ञान सही कहाता ।
चारित्र शुद्ध, परका-परिहार साता,
ऐसा जिनेश मत है हमको बताता ॥३८॥

वो शुद्ध, शुद्ध यदि दर्शन धारता है,
निर्वाण प्राप्त करता मन मारता है ।
अन्धा बना रहित दर्शन से विचारा,
पाता अभीष्ट फल को नहिं मोक्ष प्यारा ॥३९॥

धर्मोपदेश जिनका सुख का पिटारा,
है जन्म मृत्यु हरता यह विश्व सारा ।
स्वीकारता हृदय से इसको सुहाता,
सम्यक्त्व सो, श्रमण श्रावक धार पाता ॥४०॥

क्या भेद चेतन अचेतन में रहा है,
योगी उसे समझ जीवन में रहा है ।
सद् ज्ञान है नियम से उसका, बताया,
सत्यार्थ को निखिल-दर्शक ने दिखाया ॥४१॥

योगी सुरत्नत्रय लक्षण जान लेता,
सो पुण्य पाप झट छोड़ नितान्त देता ।
है निर्विकल्प मय चारित धार लेता,
ऐसा कहें जिन सुनों विधि मार जेता ॥४२॥

हो संयमी स्वबल को न कभी छुपाते,
रत्नत्रयी बन तपे तप साधु तातें ।
शुद्धात्म-ध्यान धरते रुचि से सुचारा,
पाते पुनः परम है पद पूर्ण प्यारा ॥४३॥

मायादि शल्य त्रय त्याग त्रिरत्न पाले,
धारे त्रियोग त्रय योग सदा सँभाले ।
औ राग लोभ द्वय को जड़ से मिटाते,
योगी तभी नियम से परमात्म ध्याते ॥४४॥

माया व क्रोध भय को मन में न लाना,
हो लोभ से रहित-जीवनहीं चलाना ।
है शोभता विमल भाव-स्वभाव द्वारा,
पाता अनन्त गुण उत्तम विश्व सारा ॥४५॥

शुद्धात्म-भाव-च्युत हैं विषयी कषायी,
है रौद्र भाव धरते भव दुःखदाई ।
पाते न सिद्धि सुख हैं विधि से कसे हैं,
वे क्योंकि हा ! न जिन लिंगन से लसे हैं ॥४६॥

निर्ग्रन्थ रूप जिन-लिंग वही सुहाया,
उत्कृष्ट मोक्ष सुख है, जिन देव गाया ।
सो स्वप्न में तक जिन्हें रुचता नहीं है,
रोते फिरें अबुध वे भव में यहीं हैं ॥४७॥

सद् ध्यान में उतरता परमातमा है,
होता प्रलोभ मलदायक खातमा है ।
योगी नवीन विधि आस्रव रोधता है,
प्यारी जिनेन्द्र प्रभु की यह बोधता है ॥४८॥